
इकाई 21 सार्वजनिक अर्थशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

- 21.0 उद्देश्य
- 21.1 प्रस्तावना
- 21.2 बाजार की विफलता
- 21.3 सार्वजनिक पदार्थ
- 21.4 बाह्यताएँ
- 21.5 सार्वजनिक व्यय
 - 21.5.1 सार्वजनिक व्यय संवृद्धि से जुड़ी अवधारणाएँ
 - 21.5.2 सार्वजनिक व्यय के प्रकार
- 21.6 सार्वजनिक आगम (राजस्व)
- 21.7 बजटीय घाटे के माप
- 21.8 बाजार ऋण
- 21.9 सारांश
- 21.10 शब्दावली
- 21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

21.0 उद्देश्य

अर्थशास्त्र की मूल अवधारणाओं से जुड़े इस पाठ्यक्रम की इस अंतिम इकाई में हम उन परिस्थितियों पर विचार कर रहे हैं जहाँ बाजार व्यवस्था संसाधनों का अभीष्ट तक आबंटन कर पाने में विफल रहती है। साथ ही आपको सरकार के आर्थिक क्रियाकलापों से भी परिचित कराया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप कर सकेंगे :

- बाजार विफलता परिस्थितियों का सूचीकरण;
- कल्याण अथवा क्षेत्र अर्थशास्त्र की दो मौलिक अवधारणाओं की परिभाषा;
- बाह्यतापूर्ण परिस्थितियों की पहचान और व्याख्या;
- सार्वजनिक पदार्थों की पहचान और विशेषताओं का वर्णन;
- सरकार का राजस्व और व्यय की मदों की व्याख्या और मापन;
- बजट के घाटे के विभिन्न मापकों की समीक्षा; तथा
- बाजार ऋणों की व्याख्या।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम दो मुख्य धाराओं पर चर्चा कर रहे हैं। एक हम लोक वित्त की अवधारणाओं पर बातचीत करना चाहते हैं—यह हमारी इकाई का द्वितीय अर्द्धांश होगा। इसमें सरकार का राजस्व, व्यय, बजट का घाटा और उस घाटे की पूर्ति की विधियों पर बातचीत की जाएगी। दूसरे शब्दों में, हमारा सरोकार सरकार द्वारा कर-संग्रह, उसका प्रयोग तथा घाटा रहने पर उसे पूरा करने के लिए अपनाए गए तरीकों से होगा। इकाई का प्रथम अर्द्धांश हमारे इसी अध्याय के प्रारंभिक खंडों में चर्चित व्यक्ति अर्थशास्त्र की कुछ अवधारणाओं के और आगे विकास से जुड़ा है।

21.2 बाज़ार की विफलता

इस पाठ्यक्रम में हमने बाज़ार व्यवस्था की कार्य-प्रणाली तथा उसके विभिन्न स्वरूपों; जैसे कि पूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार और एकाधिकारी प्रतियोगिता पर काफी विस्तार से बातचीत की थी। इस इकाई के वर्तमान भाग में हम उन परिस्थितियों का निरूपण कर रहे हैं जहाँ बाज़ार व्यवस्था संसाधनों की उपयुक्त आबंटन करत्री सिद्ध नहीं हो पाती। कुछ ऐसे हालात होते हैं जिनके अंतर्गत बाज़ार स्वमेव ही सभी संसाधनों का सबसे अच्छा 'बँटवारा' कर देता है। इन परिस्थितियों पर हम अभी शीघ्र ही विचार करेंगे। वैसे अनेक अध्येताओं का मत है कि शर्तें बहुत ही कठिन होती हैं। इनकी सहजपूर्ति संभव नहीं हो पाती। हाँ यह बात सभी को स्वीकार्य है कि यदि ये शर्तें पूरी हो रही हों तो फिर बाज़ार के साथ किसी प्रकार की छेड़खानी करने से बचना ही बेहतर होता है।

ये शर्तें क्या हैं? सबसे पहली बात तो यही है कि पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान हो। इसका अर्थ होगा कि कोई भी क्रेता या विक्रेता बाज़ार कीमत को अपने व्यवहार से प्रभावित नहीं कर पाएगा। बाज़ार से जुड़ी जानकारी व्यापक रूप से बिना लागत से सर्वसुलभ होगी। दूसरी बड़ी शर्त है कि बाध्यताएँ अनुपस्थित रहें। हम बाध्यताओं और उनके प्रभावों के बारे में भाग 21.4 में विस्तार से चर्चा करेंगे। पर यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त रहेगा कि बाध्यताओं के कारण किसी एक आर्थिक इकाई के व्यवहार से अन्य इकाइयों को मनचाहे ही कुछ लाभ हो सकते हैं या लागतें प्रतिफलों से जुड़ी हैं। हम मानते हैं कि उत्पादन प्रक्रिया में वृद्धिमान प्रतिफल नहीं होंगे। इस बारे में ही हमने उत्पादन फलन से जुड़ी इकाई में बात की थी। पर इस अवधारणा को एक बार दोहराना उचित ही रहेगा।

पैमाने के प्रतिफलों से हमारा तात्पर्य उत्पादक साधनों का प्रयोग एक साथ एक अनुपात में आधाने पर उत्पादन पर पड़े प्रभावों से है। यदि उत्पादन साधन वृद्धि के अनुपात से अधिक अनुपात में बढ़ें तो हम इसे पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल कहते हैं। यदि सभी साधनों का प्रयोग दुगुना करने से उत्पादन दुगुने से अधिक हो जाए तो यही स्थिति मानी जाएगी। इस स्थिति में ऐसी चिन्ताजनक बात क्या है? वास्तव में वृद्धिमान प्रतिफलों के परिणामस्वरूप सभी संसाधनों के प्रतिफलों का भुगतान कर देने पर भी कुछ न कुछ बच रहता है। यह सामान्य से अधिक लाभ की ओर संकेत करता है इस दशा में पूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

यहाँ मुख्य बात यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता अर्थशास्त्रियों द्वारा रचित क्षेमशास्त्र की अति महत्वपूर्ण कसौटी के सफल रहने की एक शर्त है। आर्थिक रचनाओं में इस कसौटी को 'पैरेटो अभीष्टता' का नाम दिया गया है। आइए इसका अर्थ समझने का प्रयास करें। ऐसा कोई परिवर्तन जो किसी को निकृष्टता की ओर धकेले बिना ही किसी अन्य व्यक्ति को लाभान्वित कर रहा हो, 'पैरेटो उत्कृष्ट' परिवर्तन कहा जाता है। क्षेम अर्थशास्त्र के दो वक्तव्य हैं, जिन्हें 'क्षेमशास्त्र के मूलभूत प्रमेय' कहा जाता है। पहला प्रमेय है : एक पूर्ण प्रतियोगी अवस्था पैरोटो अभीष्ट है। दूसरा प्रमेय है : किसी भी 'पैरोटो अभीष्ट' अवस्था को किसी पूर्ण प्रतियोगी अवस्था के समतुल्य निरूपित किया जा सकता है। अतः लगता है कि पैरेटो अभीष्टता और पूर्ण प्रतियोगी बाज़ार के संतुलन के बीच कोई न कोई गहन संबंध अवश्य है। पैरेटो अभीष्टता स्वतः ही साधनों की बरबादी से बचते हुए उन्हें कुशलतम ढंग से विभिन्न वैकल्पिक प्रयोजनों में आबंटित कर देती है।

बोध प्रश्न 1

- 1) बाज़ार किन शर्तों के अंतर्गत संसाधनों का श्रेष्ठतम आबंटन कर पाता है?

.....

.....

.....

.....

- 2) पैरेटो अभीष्टता का विचार समझाइए। कोई अवस्था किसी अन्य की तुलना में पैरेटो उत्कृष्ट कब होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

- 3) क्षेमशास्त्र के दो नियम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

21.3 सार्वजनिक पदार्थ

सार्वजनिक पदार्थों के नाम से अक्सर यह भ्रम होता है कि इन आपूर्ति सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा की गई है। पर यह सदैव सत्य नहीं होता। यह तो ठीक है अधिकांश सार्वजनिक पदार्थों की व्यवस्था सरकार ही करती है। पर आगे चलकर हम उन कारणों की समीक्षा करेंगे जिनके प्रभावस्वरूप निजी क्षेत्र द्वारा भी सार्वजनिक पदार्थों की आपूर्ति हो जाती है। यदि कोई पदार्थ दो विशेषताओं से युक्त हो तो भले ही सरकार ने उनकी व्यवस्था नहीं की हो, हम उसे सार्वजनिक पदार्थ ही मानेंगे। ये दो विशेषताएँ हैं : उपभोग या प्रयोग में प्रतिद्वंद्विता का अभाव तथा अन-अपवर्जन। आइए इनके अभिप्राय को स्पष्ट रूप से समझ लें।

उपभोग में अ-प्रतिद्वंद्विता

इस विचार का सरल सा अर्थ है कि उत्पादन की मात्रा निश्चित होते हुए भी एक व्यक्ति द्वारा इन पदार्थों के उपभोग समाज के अन्य सदस्यों के लिए उपलब्ध परिमाण में कोई कमी नहीं आती। दूसरे शब्दों में, किसी पदार्थ में उपभोग की अप्रतिद्वंद्विता का गुण विद्यमान होगा। यदि उसके उत्पादन के बाद अनेक व्यक्तियों द्वारा उसका पूरा-पूरा उपभोग करते हुए भी उसकी मात्रा कम नहीं हो। आइए कुछ उदाहरणों पर गौर करें। सर्दी की ठिठुरती शाम को आप आग जलाकर सेक रहे हैं। यदि आपका कोई मित्र भी साथ आकर बैठ जाए तो आपको मिट रहे ताप में कोई कमी नहीं आएगी। राष्ट्रीय सुरक्षा तो इस प्रकार की अप्रतिद्वंद्विता का एक बहुत ही सटीक उदाहरण है। देश के एक व्यक्ति द्वारा सुरक्षा की अनुभूति अन्य देशवासियों की सुरक्षा अनुभूति को कम नहीं करती। यह सच है कि सीमावर्ती क्षेत्रों के निवासियों को बाहरी हमले की विभीषिका अधिक झेलनी पड़ती है, पर उनकी सैन्य सुरक्षा की व्यवस्था करने से शेष देश की सुरक्षा भी अपने आप सुनिश्चित हो जाती है अतः यहाँ उपभोग में प्रतिद्वंद्विता नहीं होती। प्रदूषण नियंत्रण तथा अनेक जन-स्वास्थ्य कार्यक्रम भी इसी प्रतिद्वंद्विता विहीनता के अन्य सटीक उदाहरण हैं।

वैसे सामान्यतः हम अर्थशास्त्र में उन्हीं वस्तुओं की चर्चा अधिक करते हैं जिनके उपभोग में प्रतिद्वंद्विता होती है। यदि कमीजों के उत्पादित स्टॉक में से एक व्यक्ति एक कमीज ले ले तो अन्यो के लिए उपलब्ध संख्या में एक की कमी हो जाती है। ऐसे प्रतिद्वंद्वितापूर्ण पदार्थों के आबंटन या राशन की व्यवस्था करनी पड़ती है। पर प्रतिद्वंद्विता मुक्त पदार्थों

का लेकर ऐसी कोई समस्या नहीं उठती। आपको ध्यान होगा कि प्रतिद्वंद्वितापूर्ण पदार्थों के आबंटन की व्यवस्था बाज़ार तंत्र माँग और पूर्ति के माध्यम करता है।

अन-अपवर्जन

यह सार्वजनिक पदार्थों का दूसरा गुण है। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए हम अपवर्जन युक्त निजी पदार्थ से तुलना का सहारा लेंगे। एक निजी पदार्थ जैसे कि एक सेब का फल लीजिए। यदि आप उस सेब को खा लेते हैं तो फिर कोई अन्य व्यक्ति उसी सेब को नहीं खा पाता। अतः अन्य सभी लोग उससे उपभोग से अपवर्जित हो गए— वंचित हो गए। अतः किसी निजी पदार्थ का उपभोग इस प्रकार सीमित रखा जा सकता है। दूसरी ओर किसी सार्वजनिक पदार्थ के उपभोग को लेकर इस प्रकार की अपवर्जना प्रायः संभव नहीं हो पाती। यदि अपवर्जना का प्रयास किया जाता है तो उसकी लागत बहुत भारी आती है। उन पदार्थों का लाभ कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित रख पाना बहुत मँहगा रहता है। कोई भी व्यक्ति उन पदार्थों का उपभोग कर ही लेता है, चाहे वह उनके लिए कीमत चुकाए या नहीं। अर्थशास्त्री इस संदर्भ में प्रकाश-स्तंभ का उदाहरण देते हैं। आस-पास से गुजरने वाले जलयानों को प्रकाश स्तंभ से प्राप्य दिशा ज्ञान का लाभ उठाने से रोक पाना संभव नहीं होता। यही नहीं, एक जलयान द्वारा स्तंभ के प्रकाश से लाभ उठा लेने पर अन्य यानों के लिए उपलब्ध प्रकाश राशी किसी प्रकार से कम नहीं होती। अतः इस प्रकाश स्तंभ में सार्वजनिक पदार्थ के दोनों गुण विशेष विद्यमान होते हैं : अप्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन।

इन दोनों गुणों के बीच भेद को ठीक से ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है। प्रतिद्वंद्विता का अर्थ है एक व्यक्ति द्वारा उपभोग से अन्यो के लिए उपलब्ध परिमाण में कमी नहीं आती। फिर भी कई बार प्रतिद्वंद्विता नहीं होने पर भी संभव हो जाता है कि कुछ व्यक्तियों को उपभोग से वंचित कर दिया जाए। केवल टेलीविज़न इसका एक अच्छा उदाहरण है। जो कार्यक्रम केबल पर चल रहा है, उसे एक व्यक्ति द्वारा देखे जाने से अन्यो को उपलब्धिता पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जो लोग केबल तंत्र के संचालक को भुगतान नहीं करते, वह उनके कनेक्शन काटकर उन्हें कार्यक्रम देखने से रोक (अपवर्जित) कर सकता है। जिनके पास टेलीविज़न यंत्र नहीं हो। अथवा जो किसी चैनल का चंदा नहीं भरते हों, उन्हें प्रसारित कार्यक्रम देखने को नहीं मिल पाते। ध्यान रहे कि यहाँ दर्शनीय कार्यक्रमों के परिमाण में कोई कमी नहीं आ रही। दूसरा उदाहरण किसी सिनेमाघर का लिया जा सकता है। जो लोग अन्दर बैठे हैं वे तो समान रूप से चलचित्र का आनंद उठा सकते हैं। पर जिन्होंने टिकट नहीं खरीदे वे इस आनंद की अनुभूति से अपवर्जित या वंचित रह जाते हैं। यहाँ भी चलचित्र एक अप्रतिद्वंद्विता पूर्ण पदार्थ तो है पर यह अनापवर्जन युक्त नहीं है। उन्हीं पदार्थों को हम विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ कहते हैं जिनमें अप्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन दोनों ही विशेषताएँ विद्यमान हों। वैसे सार्वजनिक पदार्थ कहलाने के लिए कम से कम अप्रतिद्वंद्विता का गुण तो होना ही चाहिए। हमारे उपर्युक्त उदाहरणों में प्रतिद्वंद्विता का अभाव होते हुए भी अपवर्जन की संभावना विद्यमान है।

क्लबीय पदार्थ, भीड़ और अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ

हमने पिछले अनुच्छेद में ही कहा है कि विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थों में दोनों ही घोषित लक्षण होने चाहिए। पर अनेक अवस्थाओं में अप्रतिद्वंद्विता के बाद भी अपवर्जन संभव होता है। जैसा कि केबल टेलीविज़न, सिनेमाघर आदि के विषय में हमने कहा ही है। ऐसे पदार्थों को क्लबीय पदार्थ कहा जा सकता है। यह बात किसी क्लब से सदस्यों पर लागू होने वाली सी लगती है। उन सदस्यों को समान रूप से क्लब की सुविधाएँ प्राप्य होती हैं—उनका उपभोग साँझा होता है। पर जो व्यक्ति क्लब के सदस्य नहीं होते उन सुविधाओं के उपभोग से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए उन सार्वजनिक पदार्थों को जिनमें प्रतिद्वंद्विता नहीं होती पर अपवर्जन संभव हो उन्हें क्लबीय पदार्थ कहा जाता है।

अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थों का भी अपना विशिष्ट वर्ग है। इनके उपभोग में प्रतिद्वंद्विता तो स्पष्ट रूप से होती है पर अपवर्जन प्रायः असंभव या बहुत ही महँगा रहता है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण एक भीड़ भरी सड़क है। एक व्यक्ति द्वारा अपना वाहन चलाने से अन्यो को सड़क का प्रयोग करने से रोका नहीं जा सकता पर उस वाहन द्वारा घेर लिया गया सड़क का क्षेत्र उसी समय पर किसी और द्वारा प्रयोग नहीं हो सकता। अतः सड़क क्षेत्र निश्चित रूप से प्रतिद्वंद्विता पूर्ण पदार्थ है। यही बात सागर-तट पर भी लागू होती हैं। कोई व्यक्ति अन्य लोगों को सागर-तट की सीमा निहारने से नहीं रोक सकता। किन्तु बहुत भीड़ हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध तट-प्रदेश का क्षेत्र तो सीमित ही रह जाता है। अतः सागर-तट भी एक प्रतिद्वंद्विता युक्त पदार्थ होगा। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भीड़भाड़ भरे क्षेत्र भी अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ हैं पर इनकी प्रकृति क्लबीय पदार्थों से बिल्कुल विपरीत होती है। इनमें प्रतिद्वंद्विता अवश्य होती है पर अपवर्जन प्रायः नगण्य ही रहता है।

सार्वजनिक पदार्थों पर चर्चा को आगे बढ़ाने से पूर्व इनके प्रकार भेद या वर्गों पर एक दृष्टिपात अच्छा रहेगा। एक चरमसीमा पर तो हम विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थों को रखते हैं— इनमें अप्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन, दोनों ही गुण विद्यमान होते हैं। मध्यवर्ती क्षेत्र में वे अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ आते हैं जिनमें अप्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन में से एक ही गुण होता है। जिन पदार्थों में ये दोनों ही गुण नहीं होते, उन्हें तो हम निजी पदार्थ ही कहते हैं— सार्वजनिक नहीं। अनापवर्जन और अप्रतिद्वंद्विता के लक्षणों की विद्यमानता के आधार पर विभिन्न संभावनाओं को हम निम्न तालिका द्वारा भी दिखा सकते हैं :

प्रतिद्वंद्विता एवं अपवर्जन	अप्रतिद्वंद्विता तथा अपवर्जन
प्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन	अप्रतिद्वंद्विता एवं अनापवर्जन

सार्वजनिक पदार्थों की व्यवस्था अथवा आपूर्ति

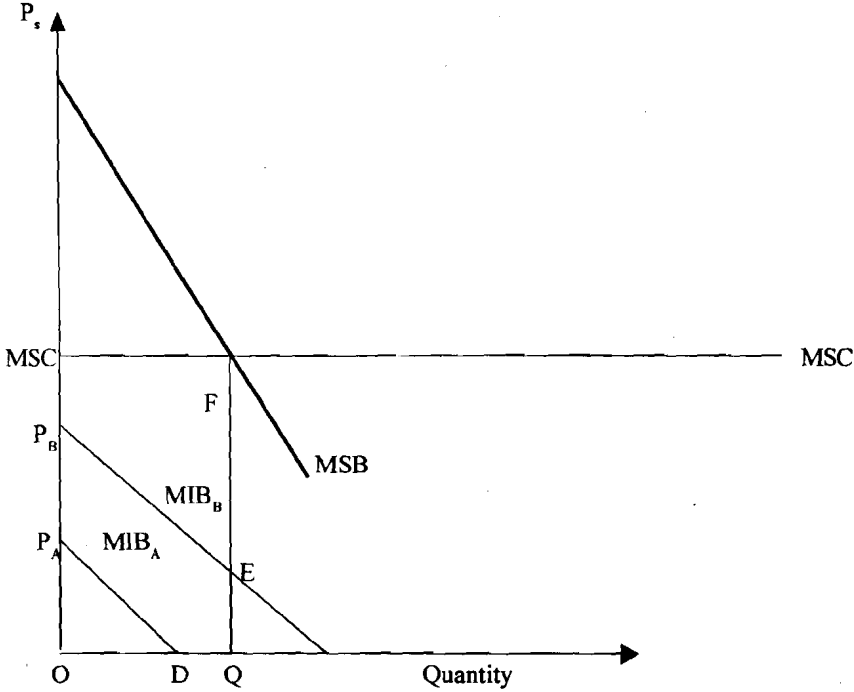
निजी क्षेत्र आमतौर पर सार्वजनिक पदार्थों की आपूर्ति ठीक से नहीं कर पाता। इसका मुख्य कारण यही है कि लोगों को इनके उपभोग से अपवर्जित नहीं किया जा सकता और इसी के कारण उनसे कीमत वसूल कर पाना सरल नहीं रहता। अतः निजी उद्यमियों को इन पदार्थों की व्यवस्था करने का कोई उत्साह नहीं होता।

यदि सिद्धांत रूप से कुछ लोगों का अपवर्जन संभव हो तो भी उपभोग में प्रतिद्वंद्विता का अभाव उस अपवर्जन को बेहद खर्चीला बना देता है। उस वस्तु का उत्पादन होने के बाद किसी अतिरिक्त व्यक्ति को वह पदार्थ सुलभ कराने की सीमांत लागत शून्य हो जाती है। सामाजिक सार्वजनिक पदार्थों के विषय में यह अनापवर्जन आबंटन क्षमता की दक्षता को बहुत ही कम कर देता है। निजी पदार्थों की अपेक्षा यह स्थिति बहुत ही अलग होती है उनका तो वही व्यक्ति उपभोग कर पाते हैं जो कीमत चुका रहे हों। जहाँ सार्वजनिक प्रबंध करने की बात हो वहाँ भी इसी अनापवर्जन के कारण एक गंभीर समस्या पैदा हो जाती है। इसे "मुफ्तखोरी" की समस्या कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी रिहायशी क्षेत्र में आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था की बात ही लें। यदि यह व्यवस्था आरंभ हो जाती है तो इसके लिए आवश्यक चन्दा नहीं देने वाले घर के निवासियों को सुरक्षा से वंचित रख पाना संभव नहीं होता। कुछ न कुछ परिवार मुफ्त में ही उस व्यवस्था से लाभान्वित होते रहते हैं। इस कारण से मुफ्तखोरी को बढ़ावा मिलता और लोगों के खर्च पर फायदा उठाने की प्रवृत्ति बलवती होती है। पर यदि बहुत अधिक लोग इसी दिशा में प्रवृत्त हो जाएँ तो फिर इस सुविधा के लिए वित्तीय प्रबंध कर पाना संभव कर पाना संभव नहीं रहता। इसी कारण से जहाँ भी उपभोगकर्ताओं के चन्दे से सार्वजनिक सुविधाओं की व्यवस्था का प्रश्न उठता है, वे सुविधा प्रारंभ ही नहीं हो पाती। उनकी आपूर्ति सदैव आवश्यकता से कम रहती है।

पूर्ति समान हो, वही बिन्दु निजी पदार्थों के लिए अभीष्ट उत्पादन स्तर कहलाता है। ऐसे बाजारों में माँग-वक्र सीमांत सामाजिक हितलाभ वक्र का रूप धारण कर लेता है (MSB) और पूर्ति-वक्र को सीमांत सामाजिक लागत (MSC) का पर्याय माना जाता है।

हमारी पिछले अनुच्छेद की मान्यताएँ तभी उचित सिद्ध होती हैं जबकि समाज के अर्थतंत्र में बाध्यताएँ नहीं हों। यदि सार्वजनिक पदार्थ के उत्पादन का प्रश्न हो तो भी इसे उस बिन्दु तक बढ़ाया जाना चाहिए जब $MSB = MSC$ । किन्तु समस्या यह है कि सार्वजनिक पदार्थों की समग्र माँग-वक्र निजी माँगों के क्षैतिज योग के समान नहीं होती। यहाँ तो सारे व्यक्ति सार्वजनिक पदार्थ की सभी इकाइयों का एक साथ उपभोग कर सकते हैं क्योंकि इनके उपभोग में प्रतिद्वंद्विता नहीं होती।

चित्र 21.1



चित्र 21.1 में हम वैयक्तिक माँग-वक्रों के ऊर्ध्व योग द्वारा सामाजिक पदार्थों की माँग-वक्र की रचना कर रहे हैं।

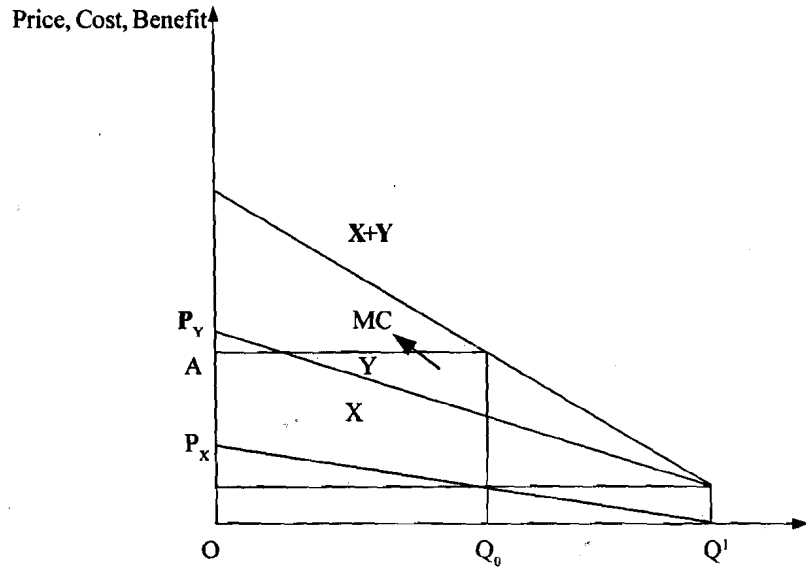
सुविधा के लिए हम केवल दो व्यक्तियों की कल्पना कर रहे हैं। उनकी अपनी-अपनी माँग-वक्र क्रमशः MIB_A तथा MIB_B हैं। सामाजिक माँग-वक्र MSB की रचना उन दोनों वक्रों को एक के ऊपर एक जोड़कर की गई है (ऊर्ध्व योग इसी को कहते हैं)। सुविधा की दृष्टि से ही हमने यह मान लिया है कि आपूर्ति-वक्र अथवा सामाजिक सीमांत लागत-वक्र क्षैतिज हैं। यहाँ Q इकाई उत्पादन के लिए A को प्राप्त $MIB=QD$ तथा B को प्राप्त $MIB=QE$ । अप्रति द्वंद्व के कारण ये दोनों ही सारा-सारा उत्पादन प्रयोग कर सकते हैं। अतः Q बिन्दु पर $MSB=QD+QE=QF$ । सामाजिक दृष्टि से अभीष्ट उत्पादन OQ रहता है। इसी पर MSB द्वारा MSC का प्रतिच्छेदन होता है। इस बिन्दु से बाईं ओर MSB का स्तर MSC से अधिक रहता है। अतः उत्पादन वृद्धि ठीक प्रतीत होती है। अतः OQ ही अभीष्ट तक उत्पादन स्तर है। यहीं A तथा B के सीमांत हित लाभ सामाजिक सीमांत लागत के समान होते हैं।

हमारा उपर्युक्त विश्लेषण बहुत ही सरल है। हम किन्हीं परिस्थितियों में MSC वक्र को दाहिनी ओर ऊपर उठते हुए भी बना सकते हैं। यदि यह पदार्थ विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ नहीं हो फिर ये भी ज़रूरी नहीं रहता कि सभी व्यक्ति इसकी संपूर्ण मात्रा का ही उपभोग करें (जैसे कि शिक्षा)।

वास्तव में व्यक्तियों की निजी हित लाभ-वक्र की रचना कर पाना भी सरल नहीं होता। यदि व्यक्तियों की संख्या बहुत विशाल हो तो समस्याएँ भी उतनी ही गहन और जटिल हो जाती हैं। अक्सर व्यवहारिक दृष्टि से समाज के सभी व्यक्तियों की ओर से अफसर और नेता मिलकर सार्वजनिक पदार्थों के वितरण के स्वरूप और सामाजिक लागतों का न्यूनाकलन या फिर हित लाभों का अधिमूल्यन (या दोनों ही) होने की संभावना अधिक रहती है। परिणामस्वरूप सामाजिक पदार्थों का आवश्यकता से अधिक उत्पादन और उसी के कारण शुद्ध सामाजिक हानि की संभावना बन जाती है।

सामाजिक पदार्थों की आपूर्ति से जुड़ी एक और समस्या उनकी समान कीमत से जुड़ी है। मान लो कि एक अप्रतिद्वंद्वितापूर्ण पर अपवर्जनीय पदार्थ है। सरकार सामाजिक अभीष्टता की नीति के आधार पर उस पदार्थ की $MSB=MSC$ स्तर पर आपूर्ति का प्रावधान करती है। सरकार सभी उपभोक्ताओं से इस सेवा की एक ऐसी कीमत वसूल करना चाहती है जिस पर कि वे सभी इस सेवा का पूरा-पूरा उपभोग करें। ऐसी दशा में प्रायः सभी उपभोक्ता अपनी क्षमता से अधिक खरीदारी करने को उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। कोई भी किसी से कम खरीदारी करने को तैयार नहीं होता। हम यही बात चित्र 21.2 में दिखा रहे हैं।

चित्र 21.2



हम यहाँ भी दो व्यक्तियों X तथा Y का उदाहरण ले रहे हैं उनके लिए वस्तु। सेवा का सीमांत मान क्रमशः X तथा Y रेखा द्वारा दर्शाया गया है। इस सेवा की प्रत्येक इकाई का दोनों ही पूरा-पूरा प्रयोग कर सकते हैं। अतः सामाजिक सीमांत मूल्यमान $X+Y$ रेखा द्वारा दिखाया जा सकता है। यदि सीमांत लागत OA स्थिर हो तो $MSB=MSC$ संतुलन दर्शाएगा। सामाजिक दृष्टि से $X+Y$ वक्र का OA उँचाई की क्षैतिज रेखा से प्रतिच्छेदन ही संतुलन बिन्दु होगा। X को OQ_0 मात्रा का उपभोग करने को प्रोत्साहित करने के लिए कीमत OP_x होनी चाहिए, किन्तु इस कीमत पर Y व्यक्ति OQ_1 मात्रा का दावेदार बन जाएगा। अतः सभी से एक कीमत वसूलने के प्रयास में हमें कुल आपूर्ति से अधिक माँग की जटिलता का सामना करना पड़ सकता है। यहाँ समस्या का एक ही समाधान हो सकता है कि किसी न किसी तरह X से OP_x तथा Y से OP_y कीमत वसूल की जाए। तभी दोनों OQ_0 मात्रा का प्रयोग करेंगे। यह वही उत्पादन स्तर है जो कि $MSB=MSC$ द्वारा निर्धारित हुआ था। इस उत्पादन स्तर पर उत्पादन की सारी लागतें भी पूरी हो जाती हैं क्योंकि स्थिर सीमांत लागत का अर्थ है $MC=AC$ । यही OP_x+OP_y के भी समान हो जो समग्र औसत आगम तो दर्शाता है। यह संतुलन जहाँ व्यक्तियों को निजी सीमांत हित लाभ

(MIB) के समान कीमत चुकानी पड़े तथा समग्र उगाही से उत्पादन की सारी लागतें भी पूरी हो जाएँ 'लिडॉल संतुलन' के नाम से जाना जाता है। किन्तु यहाँ भी व्यक्तियों की वास्तविक वरीयताओं तथा प्रतिक्रियाओं को ठीक से जान पाने की समस्या बनी रहती है। इस समस्या को माँग अभिव्यक्ति प्रक्रिया की रचना की समस्या कहा जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने "अभिप्रेरणा संगत प्रक्रिया" की रचना की विधियाँ भी सुझाई हैं वहाँ आत्मकेंद्रित व्यक्ति भी अपनी वास्तविक वरीयताएँ प्रकट करने को प्रेरित हो जाते हैं।

विशिष्ट (गुण संपन्न) पदार्थ

अभी तक हमने जिन निजी, शुद्ध और अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थों की चर्चा की है उनका एक साँझा गुण यह रहा है कि उपभोग करने न करने का अंतिम फैसला उपभोक्ता ही करता था। यहाँ तक कि मुफ्तखोर भी उस सेवा से लाभ न उठाने को स्वतंत्र रहता था। किन्तु सैन्य प्रतिरक्षा आदि कुछ ऐसे मामले भी हैं जहाँ सार्वजनिक सुविधा के 'उपभोग' के विषय में व्यक्तियों को निर्णय लेने की 'स्वतंत्रता' इतनी निर्बाध नहीं होती।

अतः ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जहाँ कोई बाह्य संस्था (सरकार) यह निर्धारित कर देती है कि ये पदार्थ उपभोग के योग्य हैं और सभी को इनका उपभोग करना ही होगा। ऐसे पदार्थों को हम विशिष्ट (गुण संपन्न) पदार्थों का नाम देते हैं। इसका एक उदाहरण तो मोटरसाइकिल की पिछली सीट पर बैठने वालों को भी हेल्मेट पहनकर अपने सिर की सुरक्षा करने का आदेश ही है। ये हेल्मेट निजी पदार्थ हैं पर जब सरकार इनको पहनना आवश्यक बना देती है तो ये विशिष्ट पदार्थ भी बन जाते हैं।

अतः विशिष्ट पदार्थ वे हैं जिनका उपभोग किन्हीं सामाजिक हितों के चिन्तन के आधार पर किया जाता है। ये सामाजिक तकाजों से प्रतिबिंबित होते हैं और प्रायः निजी 'हित' को सामाजिक या बृहतरहित के 'अधीनस्थ' स्तर पर पहुँचा देते हैं। यह एक निहित मान्यता है कि दीर्घकाल तक साथ-साथ रहने से जाते हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक सरकारों को इन सांझी सामाजिक वरीयताओं का प्रतिनिधि माना जाता है। कई बार विशिष्ट पदार्थों के संबंध में पितृभाव भी दिखाई देता है। ये पदार्थ सरकार ही नहीं निजी संस्थाएँ भी प्रदान कर सकती हैं। ऐसा उस समय होता है जब कोई संस्था किसी वस्तु का प्रयोग 'आवश्यक' समझ कर नकदी नहीं वस्तु रूप में ही उसे सभी को दानस्वरूप उपलब्ध कराना प्रारंभ कर दे।

21.4 बाह्यताएँ

बाह्यताओं का शाब्दिक अर्थ है बाहर से या बाहरी। यह ऐसी स्थिति है जिसमें कोई उत्पादक या उपभोक्ता किसी अन्य आर्थिककर्ता की गतिविधियों से अनायास ही प्रभावित हो जाता है। जहाँ किसी कर्ता के कार्य से अन्य लोगों का क्षेम स्तर प्रभावित (दुष्प्रभावित) होता हो उसे हम बाह्यतापूर्ण स्थिति कहते हैं।

बाह्यताएँ किन्हीं कार्यों के अतिरिक्त प्रभावों की तरह होती हैं। इनके उदाहरण अनेक हैं। किसी व्यक्ति को रोग प्रतिरोधक टीकाकरण से लाभ होता है।

उसके आस-पास रहने वालों को भी लाभ है क्योंकि उन्हें उस व्यक्ति के माध्यम से रोग के संक्रमण का जोखिम नहीं रहता। यह अप्रत्यक्ष लाभ ही बाह्यता है।

उत्पादन में भी बाह्यता आ जाती है। एक उद्योग अपने कर्मचारियों में प्रशिक्षण पर बहुत व्यय करता है। बाद में कुछ कर्मचारी किसी दूसरे उद्यम में चले जाते हैं तो यह (दूसरा) उद्यम भी उन कर्मचारियों की अधिक कुशलता से लाभान्वित होता रहता है। इसी तरह एक अन्य बहुचर्चित उदाहरण रहा है उस मधुमक्खी पालक का, जो किसी सेबों के बाग के पास अपना अंडा बना लेता है। ये मक्खियाँ फूलों से मकरंद संग्रह कर मधु का निर्माण

करती हैं। यदि बाग का मालिक अपने पौधों की देख-रेखकर अधिक व्यय करता है तो मधु का उत्पादन भी एक अतिरिक्त प्रभाव की तरह से स्वतः ही बढ़ जाता है। यहाँ मधुमक्खी पालक को बाह्यताओं का लाभ होता है।

बाह्य लागतें भी हो सकती हैं। प्रदूषण तो एक स्पष्ट-सा उदाहरण है। किसी कारखाने का धुआँ आस-पास रहने वालों को श्वास तंत्र के रोगों से आक्रांत कर सकता है तो उसकी गंदगी का प्रवाह साथ बहने वाली नदी के जल को जहरीला बनाकर मछलियों का विनाश कर सकता है। यही नहीं उस नदी की मछलियाँ खाने वाले लोग भी अनेक व्याधियों के शिकार हो सकते हैं। इस प्रकार यह कारखाना अन्य लोगों पर बाह्य लागतें थोप देता है। कई बार हम मनोवैज्ञानिक प्रभावों को भी बाह्यताओं में सम्मिलित कर लेते हैं। आपके सुन्दर उपवन को देख आपका पड़ोसी होने के नाते मैं भी खुश हो सकता हूँ। तो रात को बहुत तेज़ स्वर में संगीत का "शौक फरमाते" हुए मैं आपकी नींद और चैन भी हराम कर सकता हूँ। इन दोनों ही उदाहरणों में बाह्यताएँ हैं— मेरे लिए बाह्य लाभ आपके लिए बाह्य लागत।

सार्वजनिक पदार्थों और बाह्यताओं में किस प्रकार के संबंध होते हैं? एक दृष्टि से दोनों में बहुत साम्य दिखाई देता है— दोनों में ही उपभोग या प्रयोग में प्रतिद्वंद्विता विहीनता विद्यमान होती है। हमने टीकाकरण का उदाहरण दिया था। यहाँ भी एक व्यक्ति का टीकाकरण अन्यो द्वारा रोग जोखिम घटाने की संभावनाओं को कम नहीं करता। अतः इसमें भी किसी न किसी प्रकार की प्रतिद्वंद्विता विहीनता दिखाई पड़ ही जाती है। अतः सार्वजनिक पदार्थों और बाह्यताओं में संबंध अवश्य है। हाँ, इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि सभी सार्वजनिक पदार्थ बाह्यताओं को जन्म दे सकते हैं पर सभी बाह्यताओं का सार्वजनिक पदार्थों के ही कारण से सृजित होना आवश्यक नहीं होता। हमारे उपर्युक्त उदाहरणों में सार्वजनिक पदार्थों ने उपयोग की बाह्यताओं को जन्म दिया है, अतः बाह्यताओं की उपस्थिति सार्वजनिक पदार्थों का एक आवश्यक 'लक्षण' दिखाई देता है। किन्तु बाह्यताएँ तो निजी क्षेत्र (सेब का बाग और मधु का उत्पादन) जैसी स्थितियों में भी सृजित हो जाती है। अतः सार्वजनिक पदार्थ की विद्यमानता बाह्यताओं के अस्तित्व की आवश्यक पूर्वशर्त नहीं हो सकती।

बाह्यताओं की समस्या का सामना कैसे करें?

बाह्यताओं की समस्याओं से निपटने के दो तरीके रहे हैं। एक तरीके में तो बाज़ार व्यवस्था को तिलांजली देना नहीं बल्कि उसकी सामान्य कार्यप्रणाली में इन्हें भी स्थान प्रदान करना है। दूसरा परंपरागत तरीका बाज़ार की सीमा से बाहर निकलकर कराधान के माध्यम से लागतों को आत्मसात् करना है। यह दूसरा तरीका ब्रिटिश अर्थशास्त्री ए.सी. पीगू ने बहुत ही जोर-शोर से सुझाया है।

पीगू के समाधान को ठीक से समझने के लिए उनके बाह्यता विषयक विवेक को समझ लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से उपभोग और उत्पादन की बाह्यताओं का सकारात्मक एवं नकारात्मक वर्गों में विभाजन उचित प्रतीत होता है। अतः बाह्यताएँ चार प्रकार की होंगी :

- 1) उपभोग में सकारात्मक बाह्यताएँ— जैसे कि टीकाकरण;
- 2) उपभोग में नकारात्मक बाह्यताएँ— तेज़ संगीत;
- 3) उत्पादन में सकारात्मक बाह्यताएँ— कागज़ मिल द्वारा नदी में गंद बहाना;
- 4) उत्पादन में सकारात्मक बाह्यताएँ— मधुमक्खी पालक और बाग।

आइए, अब योग के तर्कों पर विचार करें। उनका मुख्य आग्रह है कि बाह्यताओं की उपस्थिति में यदि पूर्ण प्रतियोगिता हो भी तो साधनों के आबंटन पैरेटो अभीष्टता नहीं आ पाती। इस विचार को समझने के लिए लागतों और हित लाभों के निजी एवं

सार्वजनिक/सामाजिक स्वरूपों के भेद को जान लेना आवश्यक है। बाह्यताओं के कारण सामाजिक एवं निजी लाभ तथा लागतें परस्पर साम्य की स्थिति से परे चली जाती हैं। सामाजिक लाभ (लागत) निजी तथा बाह्य लाभों (लागतों) का योग बन जाते हैं। इन संबंधों के निरूपण के लिए निम्न सूत्रों का प्रयोग किया जा सकता है :

$$\begin{aligned} \text{MPC} &= \text{सीमांत निजी लागत} \\ \text{MEC} &= \text{सीमांत बाह्य लागत} \\ \text{MSC} &= \text{सीमांत सामाजिक लागत} \\ \therefore \text{MSC} &= \text{MPC} + \text{MEC} \end{aligned}$$

इसी प्रकार

$$\begin{aligned} \text{MPB} &= \text{सीमांत निजी हित लाभ} \\ \text{MEB} &= \text{सीमांत बाह्य हित लाभ} \\ \text{MSB} &= \text{सीमांत सामाजिक हित लाभ} \\ \therefore \text{MSB} &= \text{MPB} + \text{MEB} \end{aligned}$$

कुल मिलाकर दक्षता का तकाजा रहता है कि MSC और MSB समान हों। यदि MSB > MSC तो उत्पादन बढ़ाना श्रेयस्कर होगा।

आइए, अब बाह्यताओं के एक समाधान पर विचार करें। इसमें बाजार व्यवस्था को नकारा नहीं जाता। इस विचार के प्रणेता *रोनाल्ड कोस* हैं। कोस के विचार के अनुसार यदि पूर्ण प्रतियोगिता हो तो फिर निजी व्यक्ति आपस की सौदेबाजी द्वारा सरकारी हस्तक्षेप के बिना ही बाह्यताओं का समाधान कर सकते हैं (बस लेन-देन की अतिरिक्त लागतें नहीं लगती हों)। पर पीगू का मत है कि उस आर्थिक इकाई पर, जो अन्य लोगों पर बाह्य लागतें थोप रही है, कर लगाए जाने चाहिए। साथ ही जिन लोगों को वे लागतें भुगतनी पड़ रही हों उन्हें संग्रहित कर राशि में से कुछ साहाय्य दिए जाने चाहिए।

इसके विपरीत कोस का विचार था कि लागते थोपने वाला व्यक्ति भुक्तभोगियों को मौद्रिक क्षतिपूर्ति प्रदान कर सकता है। इनके अनुसार तो किन्हीं कार्यों के नकारात्मक परिणामों से आशंकित व्यक्ति उन कार्यों को होने से ही रोकने के लिए उनके कर्त्ताओं को 'रिश्वत' या धन देकर भी निश्चंत हो सकते हैं। इस प्रकार कोस का मत है कि लोगों की आपसी सौदेबाजी भी बाह्यताजनित समस्याओं का समाधान कर सकती है। उनका यह भी विचार है कि सौदेबाजी न केवल आबंटन की दक्षता को पुनःस्थापित कर सकती है। बल्कि वे मानते हैं कि बाह्य प्रभाव किसी रूप से समाज में मान्य सम्पत्ति के अधिकारों की रचना से भी जुड़े हुए हैं। कोस के विचार, कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में विनिमय लागत शून्य होने पर ऐच्छिक सौदेबाजी बाह्यताओं की समस्याओं का समाधान कर सकती है, को अर्थशास्त्री कोस का प्रमेय भी कहते हैं। इस विचार के प्रतिपादन पर कोस महाशय को अर्थशास्त्र के नॉबेल पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया जा चुका है।

बोध प्रश्न 2

1) उपयोग में प्रतिद्वंद्विता और अनापवर्जन में भेद करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'अशुद्ध' सार्वजनिक पदार्थ क्या होते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

3) विशिष्ट 'गुणसंपन्न' पदार्थ क्या होते हैं? क्या ऐसे सभी विशिष्ट पदार्थ सार्वजनिक पदार्थ होते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

4) बाह्यताएँ क्या होती हैं? बाह्यताओं का सामना करने की पीगू और कोस की विधियों की तुलना करें।

.....
.....
.....
.....
.....

21.5 सार्वजनिक व्यय

सरकार को अपने कार्यों एवं समाज की व्यवस्था पर अनेक प्रकार के व्यय करने पड़ते हैं। इन सभी खर्चों को सार्वजनिक व्यय कहा जाता है। विश्व के सभी देशों में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी गई है। अनेक अर्थशास्त्री सरकार के लिए अनहस्तक्षेप की नीति के पक्षधर रहे हैं— पर सरकार द्वारा कुछेक प्रकार के व्यय तो आवश्यक ही समझे जाते हैं। धीरे-धीरे सामाजिक क्षेम के विचार प्रायः सभी देशों में सर्वमान्य हो चले हैं और सरकारें धीरे-धीरे सामाजिक क्षेम कार्यक्रम चला रही हैं। रक्षा और प्रशासन पर व्यय भी अनिवार्य हो गए हैं।

21.5.1 सार्वजनिक व्यय संवृद्धि से जुड़ी अवधारणाएँ

सार्वजनिक व्यय से जुड़ी दो प्रमुख अवधारणाएँ हैं। पहली अवधारणा जर्मन अर्थशास्त्री एडोल्फ वैग्नर (1875-1917) की देन है। उन्होंने जर्मन अर्थव्यवस्था के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार "सरकारी गतिविधियों की संवृद्धि का नियम" प्रतिपादित किया था। उनका मत रहा है कि विभिन्न स्तरों पर सरकार के दायित्व और कार्यों में निरंतर वृद्धि होती रहती है। सरकारी क्षेत्र का प्रसार अर्थव्यवस्था की अपेक्षा तीव्रतर रहता है। परिणामतः सरकारी व्यय में भी वृद्धि होती है। इस व्यय वृद्धि का मापन कई प्रकार से हो सकता है: (क) सरकार के व्यय के स्तर में प्रत्यक्ष वृद्धि; (ख) सरकारी व्यय और सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात में वृद्धि; तथा (ग) अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के अनुपातिक अंश में वृद्धि। सरकारी व्यय की प्रत्यक्ष वृद्धि का आकलन भी चालू या फिर स्थिर कीमतों पर किया जा सकता है। जनसंख्या की वृद्धि का हिसाब लगाने के लिए इन आँकड़ों की प्रतिव्यक्ति

आधार पर गणना हो सकती है। वैसे वैग्नर के विश्लेषण से यह स्पष्ट नहीं हो पाया था कि वे किस आधार पर सरकारी कार्यों की संवृद्धि की बात कर रहे थे। मस्रोव का विचार है कि सबसे सटीक मापन उल्लिखित 'ग' द्वारा होता है। 'ख' में भी सरकारी व्यय की सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रति लोचशीलता का आकलन किया जा सकता है।

वैग्नर का नियम मुख्यतः आधुनिक और प्रगतिशील सरकारों पर लागू होता है। उन्होंने स्वयं इस नियम को आधुनिक सरकार की प्रारंभिक गतिविधियों पर मान्य कहा था। उनका विचार था कि आधुनिक औद्योगिक समाज के विकास के साथ-साथ सामाजिक प्रगति का दबाव बढ़ेगा और उद्यमों को भी समाज के प्रति अधिक संवेदनशील होना पड़ेगा। इसी कारण से सार्वजनिक और सरकारी गतिविधियों का प्रसार होगा।

सार्वजनिक व्यय की दूसरी मुख्य अवधारणा के प्रणेता जैक वाइज़मैन और अलान पीकाक हैं— इसे वाइज़मैन पीकाक अवधारणा कहा जाता है। इन्होंने 1890-1955 की अवधि में ब्रिटेन के सार्वजनिक व्यय का अध्ययन करते हुए पाया कि व्यय की वृद्धि निरंतर समान रूप से नहीं होती— इसमें सीढ़ियों की तरह से रह-रहकर उछाल दिखाई पड़ते हैं। इन उछालों का कारण किसी न किसी सामाजिक विपत्ति का सामना करने के लिए सरकार द्वारा अचानक अधिक व्यय करने की विवशता होता है। उनका विचार था कि राजस्व का वर्तमान स्तर इस बढ़े हुए व्यय के लिए पर्याप्त नहीं होता और व्यय की ज़रूरतें पूरा करने के लिए राजस्व संग्रह को बढ़ाने के लिए करों का बोझ भी बढ़ाना पड़ता है। इस अवधारणा का मुख्य मुद्दा असामान्य कारकों एवं कारणों से ही संबद्ध है— पर आज प्रायः सभी देशों में सरकारी व्यय में निरंतर वृद्धि दिखाई पड़ रही है। बकनन और ट्यूल्लोक कस संयुक्त राज्य अमेरिका के अनुभव के आधार पर आग्रह है कि सरकार के व्यय और उत्पादन वृद्धि के बीच प्रायः विसंगति ही रहती है। इसका खर्च बहुत तेजी से आगे भागता रहता है। इसके उन्होंने दो कारण बताए हैं। एक तो सरकारी अधिकारियों पर खर्च उनके उत्पादन की तुलना में (निजी क्षेत्र की अपेक्षा) अधिक तेजी से बढ़ता है। दूसरे क्षेमकारी गतिविधियों के प्रसार के कारण सरकार से हस्तांतरण आय प्राप्त करने वालों का अनुपात भी बढ़ता जा रहा है।

तो कुल मिलाकर सरकारी गतिविधियों और व्यय में निरंतर वृद्धि के मुख्य कारण क्या हैं? प्रथमतः तो सरकार के परंपरागत कार्यों का ही प्रसार हो रहा था। प्रतिरक्षा पर अधिक ध्यान दिए जाने के कारण रक्षा व्यय में वृद्धि हो रही थी। सरकारी कर्मचारियों के वेतन बढ़ रहे थे। दूसरे, क्षेमकार्यों से जुड़ी सरकारी गतिविधियों के प्रभाव प्रसार में वृद्धि हो रही थी। तीसरे, सरकार द्वारा निवेश में भी भारी वृद्धि देखी गई। चौथे, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण भी सरकार की व्यय प्रतिबद्धता का प्रसार हुआ है। पाँचवाँ कारण, जनसंख्या के नागरीकरण के कारण जनसुविधाओं पर व्यय में वृद्धि रहा है। फिर छठे, आधुनिक सरकारें अपने व्यय की व्यवस्था के लिए प्रायः उधार ले लेती हैं— इससे उनके व्यय में ब्याज की मद और जुड़ जाती है। और अंत में आजकल आयोजन के माध्यम से देश की अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास के दायित्व के कारण भी सरकारी व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि पायी जा रही है।

21.5.2 सार्वजनिक व्यय के प्रकार

सरकार अनेक प्रकार के खर्च करती है, उसके व्यय को अनेक प्रकार से वर्गीकृत भी किया जाता है। पर उनकी चर्चा से पूर्व निजी और सार्वजनिक व्यय का अन्तर समझना भी आवश्यक है। क्या दोनों में कोई समानता भी होती है? इतनी समता तो अवश्य है कि लिखित उद्देश्यों के संदर्भ में दोनों ही व्यय के आधार पर अच्छा प्रतिफल पाना चाहेंगे। निवेश के बारे में तो यह बात विशेषकर लागू होती है। सरकार तथा निजी संस्थाएँ सभी किसी न किसी उद्देश्य फलन को 'अधिकतम' करना चाहते हैं।

अन्तर तो निजी एवं सरकारी उद्देश्य फलनों की रचना के कारण उत्पन्न होते हैं। निजी

निकाय और सरकार दोनों ही व्यय के लिए रुपया जुटाते हैं। पर उनकी विधियाँ बहुत अलग होती हैं। सरकार पहले व्यय का फैसला करके उसके लिए धन जुटाने की चिन्ता करती है। किन्तु निजी निकाय अपनी आगम को ध्यान में रखकर ही व्यय का कार्यक्रम बनाते हैं। सरकार में लचीलापन अधिक होता है—यह अपेक्षाकृत अधिक दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जाता है।

आइए अब सरकारी व्यय के प्रकारों पर बात करें। सरकारी व्यय का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। सदियों से प्रचलित एक परंपरागत तरीका तो लेखांकन विधि ही है। इससे सरकार को व्यय पर कड़ी नज़र रखने तथा नियंत्रण निर्देशन में भी सहायता मिलती है। इससे व्यय क्षरण, साधनों की बर्बादी और गबन आदि पर भी नियंत्रण हो सकता है। यह अंकेक्षण प्रेरित विधि अनेक प्रकार से उपयोगी होते हुए भी व्यय के प्रभावों के विषय में कोई जानकारी नहीं दे पाती। अतः नीति निर्धारण में सहायक हो सकने वाली एक आय वर्गीकरण पद्धति की रचना की गई है। यहाँ वर्गीकरण में आर्थिक आधार भी सम्मिलित कर लिया गया है—इससे व्यय के आर्थिक प्रभावों के विषय में बेहतर जानकारी मिल सकती है।

व्यय को आर्थिक आधार पर वर्गीकृत करने की कई विधियाँ हैं। दो वर्ग तो उत्पादक और अनुत्पादक व्यय तथा हस्तांतरण और अहस्तांतरण व्यय के बीच विभाजक ही है। उत्पादक व्यय मुख्यतः निवेश ही होता है। निवेश व्यय को उत्पादक इसलिए कहा जाता है कि इससे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है। दूसरी ओर उपभोग व्यय को अनुत्पादक मान लिया जाता है। यह विचार अहस्तक्षेपवादी चिंतन पर आधारित है। एडम स्मिथ के समय में तो यह वर्गीकरण बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता था। इसके अनुसार प्रतिरक्षा, प्रशासन तथा कानून और व्यवस्था पर व्यय अनुत्पादक घोषित हो जाता था। सरकार को शेष अर्थव्यवस्था से बाहर माना जाता था। आजकल इस प्रकार का मत उचित नहीं समझा जाता। इसीलिए अनेक कारणों से यह वर्गीकरण भी अव्यवहारिक हो गया है। एक कारण तो यही है कि सरकार अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग है, इसे अनेक प्रकार के व्यय करने होते हैं जिनसे सारी अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। दूसरे कई ऐसे संसाधन भी होते हैं जो आय की दृष्टि से प्रत्यक्षतः उत्पादक नहीं होते हैं, फिर भी आर्थिक विकास के लिए बहुत ही आवश्यक होते हैं। सामाजिक सेवाओं को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें से सार्वजनिक निर्माण तो भविष्य में आय का साधन भी बन सकते हैं। इनके कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि तो निर्विवाद ही है। तीसरी मुख्य बात यह है कि उत्पादक होने के लिए संसाधनों का स्थूल दृश्य रूप आवश्यक नहीं होता। मानवीय पूँजी में निवेश अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बहुत बढ़ा सकता है। इससे प्रत्यक्ष उपयोगिता की प्राप्ति भी होती है। चौथे, कुछ आवश्यक व्ययों के अभाव में अर्थव्यवस्था और समाज का अस्तित्व भी संकट में पड़ सकता है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा एक ऐसी ही मद है। इसके अतिरिक्त शोध और विकास आदि पर व्यय अप्रत्यक्ष रूप से अर्थतंत्र की उत्पादितता को बढ़ाने में सहायक होते हैं।

सार्वजनिक व्यय को वर्गीकृत करने की दूसरी विधि पीगू ने सुझाई है। उन्होंने हस्तांतरण और गैर हस्तांतरण व्यय का विभाजन करने की बात उठाई थी। इस मत के अनुसार ऐसा कोई भी व्यय जिसके बदले में वास्तविक संसाधन प्राप्त नहीं होते, हस्तांतरण माना जाएगा। इसके उदाहरण के रूप में पेंशन, उपहार आदि रखे जा सकते हैं।

21.6 सार्वजनिक आगम (राजस्व)

किसी भी सरकार को प्रशासन चलाने और आर्थिक विकास की गतिविधियों के संचालन के लिए वित्त जुटाने की आवश्यकता पड़ती है। सरकार द्वारा संग्रहित सभी राशियों का साँझा नाम सार्वजनिक आगम है। इस आगम के कई प्रकार हो सकते हैं जिनमें से प्रमुख हैं— कर, बाज़ार ऋण, मुद्रा से आय, सार्वजनिक उद्यमों से आमदनी, परिसम्पत्तियों से बिक्री, फीस, जुर्माने, उपहार और दान आदि। ह्यू डॉल्टन जैसे अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक प्राप्तियों

और राजस्व के बीच भेद किया है। उनके अनुसार राजस्व एक संकुचित अवधारणा है। इसमें बाजार से उधार, परिसम्पत्तियों की बिक्री और करेन्सी नोटों की छपाई से आमदनी को शामिल नहीं किया जा सकता। वैसे मोटे तौर पर सार्वजनिक राजस्व और आगम को एक ही बात मान लिया जाता है।

सार्वजनिक आगम के स्रोत— आइए सरकार के बजट के राजस्व पक्ष में इसकी प्राप्तियों पर विचार करें। राजस्व और पूँजी व्यय की भाँति ही राजस्व और पूँजीगत प्राप्तियाँ भी इस खाते में दिखाई जाती हैं।

भारत के बजट में राजस्व प्राप्तियों को राजस्व खाते के रूप में दिखाया जाता है। इन्हें कर और गैर कर—राजस्व की दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। इनके अन्तर के विषय में हम आगे चलकर बात करेंगे। अभी तो इतना कहना पर्याप्त रहेगा कि गैर कर—राजस्व में करेन्सी और सिक्कों की ढलाई ब्याज, लाभांश और लाभ की प्राप्ति तथा सरकार की प्रशासनिक सेवाओं, लोक सेवा आयोग और जेलों आदि में गैर कर प्राप्तियों को शामिल किया जाता है।

अब पूँजीगत प्राप्तियों पर विचार करते हैं। राजस्व प्राप्तियाँ सामान्यतः एक वर्ष से कम अवधि से जुड़ी होती हैं। इसके विपरीत पूँजीगत प्राप्तियाँ दीर्घकालिक गतिविधियों से जुड़ी हैं। पूँजीगत प्राप्तियों का एक बड़ा स्रोत बारह महीने से लम्बी अवधि के ऋणपत्रों की माध्यम से बाजार की उधार है। विदेशी ऋण इस वर्ग में दूसरी मुख्य उपश्रेणी है। सरकार द्वारा दिए गए ऋणों की वसूली भी पूँजीगत प्राप्तियों का एक स्रोत है। भारत के केन्द्रीय बजट में केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों, संघशासित प्रदेशों और गैर सरकारी संस्थाओं को दिए गए ऋणों की वसूली इसी श्रेणी में दिखाई जाती है। भविष्य निधियाँ और अनेक प्रकार जमाएँ भी सरकार की पूँजीगत प्राप्तियों में सम्मिलित हैं।

आइए अब कर और गैर कर—राजस्वों के बीच भेदों को समझने का प्रयास करें। कर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका भुगतान अनिवार्य होता है और इसके बदले में कोई निश्चित प्रतिदान नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, जो लोग सरकार को कर चुकाते हैं उन्हें कोई निश्चित और प्रत्यक्ष तत्-प्रतितत् सरकार से नहीं मिलता। कर किसी चीज़ की कीमत नहीं है और कर दाता होने के नाते कोई व्यक्ति सरकार से किसी प्रत्यक्ष लाभ की माँग नहीं कर सकता। सरकार द्वारा उगाहे गए करों के प्रयोग से होने वाले लाभ इस आधार पर विभाजित नहीं होते कि करदाता कौन थे। कर व्यक्तियों, समूहों तथा अन्य कानूनी इकाइयों कर लगाई गई अनिवार्य देनदारी होते हैं।

आइए करों से जुड़ी कुछ बातों का स्पष्टीकरण करें। सबसे पहली बात तो कर का आधार है। यह आधार उस विषय की कानूनी व्याख्या है जिसके अनुसार कर लगाया जाता है। उदाहरण के रूप में आयकर का आधार कर दाता की आय है। इसी प्रकार उत्पादन शुल्क का आधार किसी वस्तु का उत्पादन या प्रसंस्करण है।

करापात : यह उस इकाई — व्यक्ति, समूह आदि — से सम्बद्ध है जिसे कर का भार वहन करना पड़ता है। कई बार जिस करदाता पर कर लगाया जाता है वह उसके वास्तविक भार को किसी और पर विवर्तित करने (टाल देने) में सफल हो जाता है। उदाहरण के लिए विक्रय—कर विक्रेता पर लगाया जाता है। किन्तु वह इस कर की राशि वस्तु की कीमत बढ़ाकर ग्राहक से वसूल कर देता है। दूसरी ओर, आयकर का भार किसी और पर टाल पाना संभव नहीं होता। यदि आपको आयकर देना है तो आप उसकी राशि की किसी और से वसूली नहीं कर सकते। प्रारंभिक रूप से कर लगाने को करापात कहते हैं और अंतिम रूप से उसके भार का वहन करापात कहा जाता है।

जिन करों का भार किसी और पर टाला नहीं जा सकता उन्हें प्रत्यक्ष कर कहते हैं जबकि कुछ अन्य करों के वास्तविक बोझ को विवर्तित किया जा सकता है। आयकर का विवर्तन

संभव नहीं होता। इसे हम प्रत्यक्ष कर कहते हैं। दूसरी ओर, विक्रय-कर और उत्पादन शुल्क का विवर्तन संभव है। उन्हें अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है। प्रत्यक्ष करों में कराघात और करापात उसी इकाई पर होता है। अप्रत्यक्ष करों में आपात और आघात की इकाइयाँ अलग-अलग होती हैं।

बोध प्रश्न 3

1) वाइज़मैन पीकॉक की सार्वजनिक व्यय की संवृद्धि से जुड़ी अवधारणा की व्याख्या करें।

.....
.....
.....
.....
.....

2) इनमें भेद करें :

क) निजी और सार्वजनिक व्यय

.....
.....
.....

ख) उत्पादक और अनुत्पादक सार्वजनिक व्यय

.....
.....
.....

ग) हस्तांतरण और गैर हस्तांतरण सार्वजनिक व्यय

.....
.....
.....

3) राजस्व और पूँजीगत प्राप्तियों में भेद करें। इनके दो-दो उदाहरण दें।

.....
.....
.....
.....

21.7 बजटीय घाटे के माप

आमतौर पर सरकारी व्यय के सरकारी प्राप्तियों के अधिक होने को ही बजटीय घाटा कहा जाता है। किन्तु अर्थशास्त्रियों ने इस घाटे को मापने के कई तरीके बना लिए हैं। सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि विशेषज्ञगण एक ही विचार के लिए अलग-अलग नाम गढ़ लेते

हैं और फिर बहस होती रहती है। इस भाग में हम लोक वित्त से जुड़े साहित्य में सुझाए गए सैद्धांतिक मापकों और भारत सरकार द्वारा अपने वार्षिक प्रपत्रों में प्रयोग किए जा रहे घाटे के मापकों पर चर्चा करेंगे।

हम प्रारंभ में ही घाटे और ऋण में भेद स्पष्ट कर देना चाहते हैं। घाटे से हमारा अभिप्राय किसी वर्ष की अवधि ने सरकार द्वारा उस वर्ष की आगम से अधिक खर्च से है। दूसरी ओर, सार्वजनिक ऋण उन सभी ऋणों का इकट्ठा नाम है जो अभी तक सरकार लेती रही है और जिनका भुगतान किया जाना बाकी है। इस दृष्टि से सरकार का घाटा एक प्रवाह बन जाता है जिसका किसी काल अवधि के अनुसार मापन हो सकता है। इसके विपरीत, सार्वजनिक ऋण एक स्टॉक है जिसे किसी समय बिंदु पर मापा जाता है। एक और बात का संबंध वास्तविक घाटे और नामिक घाटे के बीच भेद से है। वास्तविक घाटे से हमारा तात्पर्य कीमतों में हुई वृद्धि का प्रभाव दूर कर किसी आधार वर्ष से तुलना करने वाले घाटे के आँकड़ों से है जबकि नामिक घाटा चालू वर्ष के कीमत स्तर पर ही आधारित होता है।

आइए, अब घाटे के विभिन्न मापकों और अवधारणाओं पर बातचीत करें। इस दृष्टि से यह बेहतर होगा कि हम भारत सरकार के बजट में प्राप्तियों और व्यय की विभिन्न मदों पर भी विचार करने चलें।

व्यय की मदों को दो वर्गों में बाँटा गया है : राजस्व खाते पर व्यय, पूँजी खाते पर व्यय। इन दो खातों में मूल अंतर यही है कि राजस्व खाता चालू वित्तीय वर्ष के व्यय से जुड़ा है। जबकि पूँजी खाते पर हुआ व्यय दीर्घ अवधि के कार्यों से जुड़ा हुआ रहता है। राजस्व खाते पर व्यय की मदों को आगे ब्याज और गैर ब्याज व्यय में बाँटा गया है। इसी प्रकार पूँजी खाते का व्यय ऋण और अग्रिम तथा पूँजी खर्च में बाँट दिया गया है।

सरकार के बजट के आगम पक्ष में इसकी प्राप्तियाँ दर्ज की जाती हैं। राजस्व और पूँजी व्यय की भाँति ही राजस्व प्राप्तियाँ और पूँजीगत प्राप्तियाँ अलग-अलग दिखाई जाती हैं। राजस्व प्राप्तियों में दो उपसमूह हैं : कर-राजस्व और गैर कर-राजस्व। गैर कर-राजस्व में तीन प्रकार की प्राप्तियाँ दिखाई जाती हैं : ब्याज, गैर ब्याज राजस्व और अनुदान। पूँजीगत प्राप्तियों के चार प्रकार हैं : वसूली, राजकोषीय हुण्डियों के अतिरिक्त उधार, अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ तथा सरकारी परिसम्पत्तियों की बिक्री।

कुल व्यय और कुल आगम का अन्तर ही बजटीय घाटा है। इसकी पूर्ति राजकोषीय हुण्डियों में आधार पर उधार तथा नकद कोष को कम करके की जाती है। आइए, अब राजस्व और व्यय की मदों को तालिकाबद्ध करने का प्रयास करें।

I) राजस्व प्राप्तियाँ

क) शुद्ध कर-राजस्व

ख) गैर कर-राजस्व

i) ब्याज

ii) गैर ब्याज

iii) अनुदान

II) पूँजीगत प्राप्तियाँ

क) वसूलियाँ

ख) राजकोषीय हुण्डियों के अतिरिक्त उधार

- ग) अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ
घ) सार्वजनिक परिसम्पत्तियों की बिक्री

III) कुल प्राप्तियाँ (I + II)

IV) राजस्व खाते पर व्यय

- क) ब्याज का भुगतान
ख) गैर ब्याज भुगतान

V) पूँजी खाते पर व्यय

- क) ऋण और अग्रिम
ख) पूँजीगत खर्च

VI) कुल व्यय (IV + V)

VII) राजकोषीय हुण्डियों द्वारा उधार और नकद कोषों में कमी।

ऊपर लिखी गैर प्राप्तियों और व्ययों के आधार पर घाटे के कई मापों की रचना की जा सकती है। आइए, इन पर विचार करें।

- 1) **राजस्व खाते पर घाटा या राजस्व घाटा** : यह राजस्व खाते पर प्राप्तियों से राजस्व व्यय के अधिक होने का मापक है। दूसरे शब्दों में IV - I.
- 2) **पूँजी खाते पर घाटा** : यह पूँजी खाते पर व्यय का पूँजीगत प्राप्तियों का अधिक होना दर्शाता है। अर्थात् V - II.
- 3) **बजटीय घाटा** : यह 1 और 2 में दिखाए गए घाटों का योगफल ही है।

आइए, अब बजट से जुड़े एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करें : क्या सरकार को सदैव घाटे से बचना चाहिए या अपना बजट संतुलित रखना चाहिए? क्या बजट में घाटा अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक है? घाटे में कमी या इसकी समाप्ति के बारे में अनेक विशेषज्ञ और संस्थाएँ क्यों आग्रह करते हैं?

बीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों तक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यही मत था। सरकार को उपयुक्त समय अवधि में अपने बजट संतुलित ही रखने चाहिए। दूसरे शब्दों में, कुल राजस्व संग्रह और कुल सार्वजनिक व्यय को समान रखने पर बल दिया जाता था। पर इसमें यह बात विचारणीय थी कि "उपयुक्त समय अवधि क्या थी। सामान्यतः इसे एक वर्ष ही माना जाता था। अतः प्राप्ति पक्ष में उधार या ऋण शामिल नहीं किए जाते थे। साथ ही बजट को एक लेखा ही माना जाता था। इस पद्धति में कमी-कभार कुछ परिवर्तन भी सुझाए जाते थे। एक सुझाव तो यही रहा था कि पिछले ऋणों की वापसी को चालू वर्ष के घाटे का अंग नहीं माना जाए। हाँ, ब्याज को जरूर घाटा में रखा जा सकता था।

संतुलित बजट के पक्षधरों के मुख्य तर्क क्या रहे हैं? एक तो वे सरकारी बजट को भी निजी व्यक्तियों के बजट के समान ही मानते थे। जैसे गृहस्थों को घाटे से बचने की सलाह दी जाती थी वैसे ही सरकार को भी घाटे से बचने को कहा जाता था। आज तो उपभोक्ता ऋणों और साख पत्रकों (क्रेडिट कार्ड) का जमाना है— उनसे अपना बजट संतुलित रखने की कोई बात नहीं करता। सरकार के बजट को संतुलित रखने के पीछे यही विचार था कि सरकार शेष अर्थव्यवस्था से बाहर की कोई इकाई थी और उसे संतुलन में रहना ही

चाहिए था। वैसे उन दिनों सरकारों का फिजूल खर्च होना कोई नई बात भी नहीं थी।

बजट घाटे को लेकर दूसरी आपत्ति वस्तुतः इस घाटे को पूरा करने की विधि को लेकर थी। उनका मत था कि घाटा पूरा करने के लिए छापी गई मुद्रा से देश में कीमतों की वृद्धि की ज़ौखिम पैदा हो जाती है।

तीसरा तर्क तो बहुत ही विलक्षण था। कहा जाता था कि लोग करों का बढ़ना पसंद नहीं करते। पर दूसरी ओर सरकार का व्यय बढ़ता ही रहता है। तो सरकार को घाटे की पूर्ति के लिए सार्वजनिक ऋणों द्वारा पूरा करना बड़ा सरल लगता था, क्योंकि लोग बड़ी खुशी से सरकार को उधार दे देते थे— खासकर जब ब्याज की दर भी ऊँची होती। सरकारों को भी उधार और नए नोटों द्वारा घाटे पूरा करना बहुत 'सुखद' लगता था। इसी कारण वे बेतहाशा खर्च करती रहती थीं। इससे घाटा और बढ़ता रहता था। घाटे से पैदा हुई स्फीति के कारण घाटा और बढ़ जाता था। अतः घाटे में आत्मपोषण एवं संवर्धन की बहुत बड़ी विशेषता होती है। इसी कारण इन विशेषज्ञों का आग्रह था कि घाटे को तो पैदा होते ही समाप्त कर देना चाहिए।

हमें यह भी बात ध्यान रखनी होगी कि जो घाटे को नियंत्रित रखने का आग्रह करते हैं वही विशेषज्ञ यह भी कहते हैं कि सरकार को करों का स्तर नीचा रखना चाहिए। इनका यह विचार है कि निम्न दरों के कारण लोग कर दायित्व का निर्वाह करने से बचने का प्रयास कम करते हैं। दूसरे कम करों के कारण और काम करके अधिक कमाने की संप्रेरणा भी दुष्प्रभावित नहीं होती। अतः ऊँचे करों के कारण तो उत्पादन और उत्पादिता दोनों पर ही बुरा असर पड़ेगा। इनका आग्रह है कि न्यून घाटा और न्यून करों की दरों के लिए सरकार को अपना व्यय सीमित रखना चाहिए। वैसे यही विशेषज्ञ यह भी कहते हैं कि सरकार को मुनाफा कमा पाने वाले कार्यों— होटल, पर्यटन आदि से भी दूर रहना चाहिए। अतः स्पष्ट ही लगता है कि घाटा कम करने के पक्षधर मूलतः अहस्तक्षेपवादी दर्शन में ही विश्वास करने वाले पुरातनपंथी हैं।

बजट घाटे के पक्ष में भी कोई तर्क हो सकते हैं? आपको ध्यान होगा कि केन्ज़ ने महामंदी से अर्थतंत्र को उबारने के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का ही सुझाव दिया था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिकी अर्थव्यवस्था की तीव्र आर्थिक संवृद्धि के वर्षों में (1950 व 1960 के दशक) बजट का घाटा एक सामान्य सी बात मानी गई थी। इस घाटे के पक्ष या इससे भयभीत नहीं होने के पक्ष में कुछ और तर्क इस प्रकार हैं :

बजट का संतुलन अपने आप में कोई ध्येय नहीं हो सकता। सार्वजनिक बजट अपने लक्ष्यों और संरचना की दृष्टि से निजी बजट से अलग होते हैं। संतुलित बजट के विचार से लगता है कि बजट का शेष अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए पर आज तो बजट को समाज की आर्थिक नीतियों का दर्पण एवं एक मुख्य अस्त्र माना जाता है। फिर यदि समग्र आय की तुलना में घाटा मामूली हो तो इसके स्फीतिकारी होने की संभावना बहुत ही क्षीण रह जाती है। ये तो हम पहले ही कह चुके हैं कि घाटा अर्थव्यवस्था को मंदी के दौर से उबरने में सहायक ही रहता है।

21.8 बाज़ार ऋण

पिछले भाग में आपने बजट में घाटे के कई स्वरूप देखे हैं। इसे चाहे जिस रूप में परिभाषित किया जाए, अंततः घाटे का अर्थ है व्यय की आय पर अधिकता। इस भाग में हम घाटे को पूरा करने के एक माध्यम— 'बाज़ार से उधार' पर चर्चा कर रहे हैं।

सार्वजनिक ऋण

किसी भी समय बिंदु पर सरकार की समग्र ऋण देनदारी को सार्वजनिक ऋण कहा जाता

है। इसकी कई प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं। इसके स्वरूप को समझाने के लिए आइए हम सरकार के देनदारी संबंधी दायित्वों की रचना को जानने का प्रयास करें। एक तो सरकार करेन्सी या मुद्रा का निर्गमन करती है। भले ही दिखाने के लिए यह निर्गमन रिज़र्व बैंक कर रहा है किन्तु यह भी सरकार तन्त्र का एक अंग है। इसीलिए समस्त निर्गमित मुद्रा को सरकार का शेष समाज के प्रति देनदारी दायित्व ही माना जाता है।

दायित्वों का दूसरा घटक अल्पकालिक ऋण है— सामान्यतः निर्गमन के समय इसकी अवधि एक वर्ष से कम रहती है और दूसरा मुख्य स्रोत राजकोषीय हुण्डियाँ तथा केन्द्रीय बैंक होता है कुछ ऐसे ऋण भी होते हैं जिनकी परिपक्वता तिथि निश्चित नहीं होती, जब सुविधा हो उनका कुछ भाग चुका दिया जाता है। इनमें भविष्य निधि, लघु बचत और सुरक्षित निधियाँ आदि शामिल हैं। भारत में सरकार विशेष प्रकार की प्रतिभूतियाँ जारी कर विश्व-बैंक आदि अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करती है। इन्हें विशेष ऋणों का नाम भी दिया जाता है।

इन बाज़ार ऋणों का अपने आप में विशेष महत्त्व है। भारत की सरकार तो इन्हें घाटे के आकलन में शामिल ही नहीं करती। ये दीर्घकालिक उधार होते हैं—इनकी भुगतान परिपक्वता की अवधि एक वर्ष से अधिक होती है। सरकार का दावा है ये दीर्घ अवधि के ऋण हैं, ये घाटे के प्रतीक नहीं हो सकते क्योंकि ये तो व्यय प्रवाह पर निजी के स्थान पर सार्वजनिक नियंत्रण के द्योतक हैं। इस कारण ये स्फीतिकारी नहीं हो सकते। पर इस दृष्टिकोण की सत्यता संदेहास्पद है। रिज़र्व बैंक स्वयं ही अधिकांश बाज़ार उधार लेता रहता है। इस बैंक द्वारा उधार चाहे लघु अवधि का हो या दीर्घ का—असर तो एक ही होता है : नए नोटों का निर्गमन।

बोध प्रश्न 4

- 1) सार्वजनिक घाटे तथा सार्वजनिक ऋण में भेद करें।

.....

.....

.....

.....

.....

- 2) बजट के पूँजी बाज़ार पर प्रभाव समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

21.9 सारांश

इस इकाई में आपको परंपरागत लोक वित्त की कुछ अवधारणाओं सहित सार्वजनिक अर्थशास्त्र से परिचित कराया गया है। हमने बाज़ार की विफलता से इकाई को आरंभ किया था। फिर पैरेटो श्रेष्ठता तथा अभीष्टता की चर्चा करते हुए पूर्ण प्रतियोगिता से इसके संबंधों पर विचार किया। यहीं पर क्षेत्र अर्थशास्त्र के दो मूलभूत प्रमेयों की परिभाषा भी की गई है।

हमारा अगला पड़ाव सार्वजनिक पदार्थों की व्याख्या रहा। इनकी दो विशेषताएँ हैं : अप्रतिद्वंद्विता तथा अनापवर्जन। इनसे सम्पन्न किसी भी पदार्थ को विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ कहा जा सकता है। हमने अशुद्ध सार्वजनिक पदार्थों के दो मुख्य उदाहरण क्लबीय पदार्थ और भीड़भाड़ वाली सुविधाओं की भी चर्चा की है। फिर सार्वजनिक पदार्थों की आपूर्ति की व्यवस्था के संदर्भ में सामाजिक एवं वैयक्तिक हित लाभ फलनों की रचना के अंतरों का स्पष्टीकरण किया गया है। हित लाभों का ऊर्ध्व योग ही सामाजिक फलन बनाता है—क्षैतिज नहीं। यहाँ पर लिडॉल संतुलन की चर्चा भी आई है।

हमारी चर्चा का अगला भाग बाह्यताओं से जुड़ा है— ये बाज़ार की विफलता का ही एक दृष्टांत है। हमने चार प्रकार की बाह्यताओं की बात उठाई है। साथ ही इनका सामना करने के सुझावों पर भी विचार किया है। पीगू ने तो करो और साहाय्यों (subsidies) के माध्यम से इनका निराकरण सुझाया था। दूसरा रास्ता संपत्ति अधिकारों के आबंटन से जुड़ा है। यहाँ कोस के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही सौदेबाज़ी द्वारा पारस्परिक लाभप्रद समाधान निकालने में सफल हो जाते हैं। कोस महाशय के महत्त्वपूर्ण प्रमेय से भी यही परिचय हुआ है।

बाज़ार विफलता, सार्वजनिक पदार्थ और बाह्यताएँ तो व्यष्टि अर्थशास्त्र से जुड़ी इकाइयों में निहित अवधारणाओं का और आगे विकास भी कही जा सकती हैं। इनके बाद हमने सार्वजनिक आगम या राजस्व, घाटा, बाज़ार ऋणों आदि के लोक वित्त से जुड़े विचारों पर चर्चा की है। लोक आगम के संबंध में प्राप्तियों और राजस्व का भेद करते हुए राजस्व को कर और गैर-कर वर्गों में बाँटा गया है। फिर बजट के घाटे और उसे पूरा करने के तरीकों की बात आई, यहाँ घाटे के स्वरूपों और घाटे तथा ऋण के अंतर पर चर्चा की गई है।

21.10 शब्दावली

संतुलित बजट	: ऐसा सरकारी बजट जिसमें सकल राजस्व और सकल व्यय समान हों।
पूँजी व्यय	: दीर्घकालिक आधार पर किया गया व्यय।
पूँजीगत प्राप्तियाँ सार्वजनिक व्यय की सकल	: दीर्घकालिक स्वरूप की मद से आगम।
राष्ट्रीय उत्पाद लोचशीलता	: सरकारी व्यय के प्रतिशत परिवर्तन का सकल राष्ट्रीयउत्पाद के प्रतिशत परिवर्तन से अनुपात।
पूर्ण प्रतियोगी बाज़ार	: ऐसी बाज़ार व्यवस्था जिसमें कोई क्रेता-विक्रेता कीमत को प्रभावित नहीं कर पाए। समरूप वस्तु का व्यापार हो, पूरी जानकारी प्रत्येक को बिना लागत सुलभ हो और जिस बाज़ार में आना या उससे निकलना निर्बन्ध हो।
विशुद्ध सार्वजनिक पदार्थ	: ऐसे पदार्थ जिनमें अप्रतिद्वंद्विता तथा अनापवर्जन के गुण हों।
राजस्व व्यय	: अल्पकालिक कार्यों पर व्यय।
राजस्व प्राप्तियाँ	: एक वर्ष से कम अवधि की गतिविधियों से प्राप्तियाँ।
अल्पकालिक ऋण पत्र	: एक वर्ष से कम अवधि के ऋण-पत्र।

20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhatia, H.L., *Public Finance* (Latest edition) Vikas: New Delhi

Browning, Edgar and Jacqueline Browning (1994), *Public Finance and Price System* (Fourth Edition) Prentice Hall: Englewood Cliffs New Jersey

Musgrave, Richard A. and Peggy B. Musgrave (1989), *Public Finance in Theory And Practice* (Fifth Edition) McGraw-Hill International Edition: New York

Stiglitz, Joseph E. (1994), *Public Sector Economics*, Third Edition, W.W. Norton & Co.: New York

21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

सभी प्रश्नों के लिए भाग 21.2 पढ़ें।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1, 2, 3 के लिए 21.3 पढ़ें और उत्तर लिखें।

प्रश्न 4 के लिए भाग 21.4 पढ़ें।

बोध प्रश्न 3

1) अपने उत्तर के लिए भाग 21.5 देखिए।

2) अपने उत्तर के लिए भाग 21.5 देखिए।

3) अपने उत्तर के लिए भाग 21.6 देखिए।

बोध प्रश्न 4

1) अपने उत्तर के लिए भाग 21.7 देखिए।

2) अपने उत्तर के लिए भाग 21.8 देखिए।